उत्साह और उमंग का पर्व - होली

देवर्षि कलानाथ शास्त्री
(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक ''भारती''संस्कृत मासिक
पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
पूर्व अध्यक्ष - राजस्थान संस्कृत अकादमी
आधुनिक संस्कृत पीठ - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व निदेशक - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
सदस्य - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

होली और दिवाली उत्तर भारत के दो ऐसे प्रमुख पर्व हैं, जो मुहावरों तक में रच बस गए हैं, वैसे किसी न किसी रूप में ये सारे देश में मनाए जाने वाले राष्ट्रीय पर्व हैं। होली तो अन्तर्राष्ट्रीय पर्व कहा जा सकता है, क्योंकि वसंत के प्रारम्भ में इस प्रकार के उत्सवों की परम्परा, जिसमें सारी कटुताओं और संकोचों को भूल कर सभी वर्गों के नर-नारी उन्मुक्त हास-परिहास और स्वच्छंद विचरण करते हैं, विश्व के सभी देशों में पाया जाता है। पश्चिमी देशों में 'आल फूल्स डे' (जो 'फूल्स डे' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है और आजकल एक अप्रेल को मनाया जाता है) जैसे अनेक उत्सवों की परम्परा है, जिसमें स्वयं मूर्ख बन कर तथा लोगों को मूर्ख बना कर एक खास तरह का आनन्द लिया जाता है।

भारत में यह उत्सव वेदकाल से ही किसी न किसी रूप में चला आ रहा है। वेदकालीन यज्ञों में वैश्वदेव नाम का यज्ञ फाल्गुन की पूर्णिमा को किया जाता था, जिसमें सभी देवताओं के लिए भोज्य पदार्थ बनाये जाते थे। इसी प्रकार नया धान आने पर उसे पहले आहुति के रूप में देवताओं को समर्पित कर उसके बाद ही उपयोग में लिये जाने की परंपरा थी। वर्षा में फसल के समय किये जाने वाले इन यज्ञों को आग्रयण या नवधान्येष्टि कहा जाता था। वेदकालीन यह परम्परा अब तक चली आ रही है। होली की अग्नि में नये धान को भूनने की प्रथा अब भी है। लगता है यह वैदिक परम्परा चाहे किसी न किसी रूप में सदा से चलती रही हो, इस उत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू मदनोत्सव या वसंत के प्रारम्भ में खुली उमंगों की अभिव्यक्ति के उत्सव के रूप में मनाये जाने वाला आनन्द बन गया। इस दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा ऋतुपर्व है। ऐसा पर्व ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वसंतसम्पात और शरत् सम्पात के समय आता है। वसंतसम्पात (जिसे अंग्रेजी में वर्नल एक्विनोक्स कहते हैं) तब होता है, जब सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है अर्थात् रात और दिन बराबर होते हैं। इसी प्रकार शरत् सम्पात में भी रात और दिन बराबर होते हैं। ऐसा लगता है, कि मूलतः शरत्

सम्पात (जिसे अंग्रेजी में आटम्नल एक्विनोक्स कहते हैं) के अवसर पर मनाये जाने वाले उत्सवों की परम्परा अब दिवाली में समाहित हो गयी है और वसन्त संपात के उत्सवों की परम्परा होली में।

होली के साथ प्रहलाद की जो धार्मिक कथा जुड़ गयी है, उसे विद्वान बहुत बाद की घटना मानते हैं। प्राचीन ग्रंथों में इन दिनों मनाये जाने वाले जिन उत्सवों का वर्णन मिलता है, वे पूर्णतः नागरिक और सामाजिक उत्सव हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में फाल्गुन मास में मनाये जाने वाले अनेक वासन्ती उत्सवों का विवरण है। पुष्पावचायिका नामक क्रीड़ा भी इस समय की जाती थी, जिसमें पुष्प क्रीड़ा और नृत्य गीत आदि का रिवाज था। इसी ऋतु में बाहर जाकर पिकनिक मनाने जैसी क्रीड़ाएँ भी की जाती थीं। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए 'कामसूत्रकार' वात्स्यायन ने अभ्यूषखादिका नाम की एक ऐसी ही क्रीड़ा का वर्णन किया है, जिसमें घर से बाहर किसी उद्यान में कंडों पर चूरमा या बाटी जैसी चीजें बनायी और खायी जाती थीं। सुवसन्तक और मदनोत्सव जैसे वसन्ती उत्सवों का भी कामसूत्र तथा अन्य प्राचीन साहित्य में उल्लेख है। लगता है सुवसन्तक की परम्परा वसन्तपंचमी के रूप में और मदनोत्सव की परम्परा पूरी तरह होली के उत्सव के रूप में आज भी अक्षुण्ण चली आ रही है। युवक युवतियों की स्वच्छंद रंग क्रीड़ा के जिस उत्सव का उल्लेख प्राचीन काव्यों में मिलता है, आज तक इसका वैसा ही रूप चला आ रहा है। साहित्य के लिए ही नहीं, हिन्दी फिल्मों के लिए भी यह उत्सव उन्मुक्त अठखेलियों और हंसी खुशी का मधुकोष लुटाने वाला एक अटूट खजाना खोल देता है। रंगों के उड़ते बादल और प्रेमियों के उन्मुक्त प्रणय-निवेदन का जो रूप आज की हिन्दी फिल्में होली के बहाने चित्रित करती हैं, ठीक वही आज से लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व लिखे प्राकृत के काव्यग्रंथों में भी मिलता है, यह क्या कम आश्चर्य की बात है?

शालिवाहन द्वारा संकलित गाथा सप्तशती प्राकृत गाथाओं का अनूठा संग्रह है, जिसमें जनपदों के निश्छल लोकजीवन और अछूती लोक-भावनाओं का अद्भुत रूप में सरस वर्णन मिलता है। ग्रामीण युवक-युवतियों की जो क्रीडाएँ मदनोत्सव के अवसर पर सम्पन्न होती थीं, वे इन गाथाओं में वर्णित हैं, उनसे इसकी दोनों परम्पराएँ स्पष्ट हो जाती हैं, रंगक्रीड़ा की, यहाँ तक कि कीचड़ मलने और गुलाल उछालने की उन्मुक्त क्रीड़ाओं की परम्परा तथा श्रृंगार भावनाओं की खुली अभिव्यक्तियों की परम्परा । एक गाथा में बताया गया है कि मदनोत्सव पर ग्रामीण युवतियों का सर्वोत्तम आभूषण होता है कुसुंभी (टेसू के) रँग से रँगी हुई उनकी चोलियाँ ! इससे भी स्पष्ट होता है, कि होली मदनोत्सव का ही उत्तराधिकारी उत्सव है। एक अन्य गाथा में एक नवयुवती अपनी सखी से परिहास करती है, कि जिस नवयुवक ने तुम्हें कीचड़ का श्रृंगार दिया है, वह तुम्हारे स्नेह का तो अधिकारी पहले से ही हो गया है। इन्ही गाथाओं की रँगक्रीड़ाओं के वर्णनों का आधार लेकर हिन्दी कवियों ने भी अनेक सुललित पद्य लिखे हैं। एक उदाहरण

ही पर्याप्त होगा। गाथा सप्तशती की एक गाथा इस प्रकार है

आदाय चूर्णमुष्टिं , क्व च महौत्सुक्येन वेपमानायाः।
प्रियमवकिरामि पुर , इति हस्ते गन्धोदकं जातम् ।।

नायिका खड़ी है - होली के दिन नए प्रिय पर छिड़कने को गुलाल उसके हाथ में है। खुशी और उत्सुकता से काँप रही है और सोचती है, कि अभी लपक कर प्रियतम पर लपेट दूँगी। पर यह क्या? उत्सुकताजन्य स्वेद के कारण गुलाल तो हाथ की हाथ में रंग बन गयी।

इसी का आधार लेकर बिहारी सतसई में महाकवि बिहारी ने भी एक दोहा लिखा है-

मैं लै दयो, लयो सु कर, छुअत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा, उर लै लग्यौ अबीर ॥

विरहिणी नायिका ताप से इतनी जल रही है, कि नायक ने जब उसके लिए अरगजा (रंगलेप) भेजा और उसने अपने हाथ से उसे अपने शरीर पर लगाया, तो विरह ताप की गर्मी से सारा पानी सूख गया और वह रंग गुलाल बन गया।

प्रायः प्रत्येक युग की संस्कृत-रचनाओं में होली के इस उत्सव की रंगक्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी में हुए हर्षवर्धन सम्राट् ने रत्नावली नाम से एक नाटिका लिखी है, जिसमें होली के समय कौशाम्बी नगर में सार्वजनिक रूप से राजमार्गों पर नागरिकों द्वारा उड़ायी जाने वाले गुलाल और अबीर से सारी दिशाओं के रँग जाने का सुन्दर वर्णन मिलता है-

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकमक्षोदगौरे
हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिरः शेखरैः कैंकिरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्य-स्वविभव-विजिताशेष-वित्तेश-कोषा
कौशाम्बी शातकुंभद्रव-खचित-जनेष्वैकपीता विभाति ॥

पीली गुलाल उड़ रही है, केसरिया रंग ने संध्या-सी उतार दी है, सोने से लदे नागरिकों ने कौशांबी के राजमार्गों को कुबेरपुरी से भी अधिक समृद्ध परिवेश दे दिया है, लगता है चित्रफलक पर स्वर्ण रेखाओं से कोई दृश्य उकेर दिया गया हो।

भवभूति ने अपने नाटक 'मालती माधव' में मदनोत्सव के अवसर पर मालती और माधव के प्रथम मिलन का वर्णन किया है। इस अवसर पर किसी उद्यान में पुष्पों से कामदेव की पूजा की जाती थी और युवक-युवतियाँ आमोदप्रमोद में व्यस्त रहते थे। लगभग छठी शताब्दी के विश्वप्रसिद्ध संस्कृत गद्यकार बाणभट्ट ने इस अवसर पर सामाजिक हँसी-मजाक किये जाने के विवरण बड़े रोचक ढंग से दिए हैं। साल भर जो व्यक्ति समाज को विभिन्न कारणों से अखरता था, उसे होली के अवसर पर चिढ़ाने या उसका सार्वजनिक मजाक बनाने की प्रथा उन दिनों में भी थी, यह इससे स्पष्ट होता है। बाणभट्ट ने चंडी-मंदिर के बूढ़े और कुरूप पुजारी को टूटी खटिया पर किसी बुढ़िया के साथ बिठला कर विवाह का स्वाँग रचाते हुए उसका मजाक बनाने का बहुत रोचक वर्णन किया है।

होली के अवसर पर उन्मुक्त विहार, अबीर गुलाल के खेल तथा नृत्य गीत आदि के प्रमोदों की परम्परा भारत में सदियों से रही है। मुगलकाल में बादशाहों और सामन्तों ने भी इस परम्परा को बखूबी निभाया। जहाँगीर, फर्रूखसीयर आदि से ले कर वाजिद अली शाह तक रंग और गुलाल से किस प्रकार होली खेली जाती थी, इसका प्रमाण तत्कालीन लघुचित्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है। परवर्ती साहित्य में भी इस अवसर की उन्मुक्त अभिव्यक्ति के संकेत जगह-जगह मिलते हैं। लगता है मानव मन की इस अभिलाषा ने प्रत्येक देश में कोई न कोई ऐसा उत्सव तलाश लिया है जिसमें उन्मुक्त अभिव्यक्ति पर कोई अंकुश न हो, कोई बन्धन या सामाजिक निषेध न रहें। तभी तो वर्ष भर की कुंठाओं को विरेचित करने के इस उत्सव का कभी कभी नाजायज फायदा उठा कर लोग शालीनता की सीमा ही तोड़ देते हैं, मारपीट, कीचड़ उछालने और नशे में धुत्त होकर गाली गलौज करने से भी बाज नहीं आते। समय समय पर ऐसी निरंकुशता को शालीन परम्पराओं में बाँधने के प्रयत्न भी होते रहे हैं।

एक ऐसा ही प्रयत्न जयपुर की तमाशे की परम्पराओं में भी देखा जा सकता है। ब्रह्मपुरी में छोटे और बड़े अखाड़ों में होली के दिनों में गत दो तीन शताब्दियों से संगीतमय तमाशों (लोकनाट्य का एक रूप) की परम्परा चलती रही है, जिसमें शृंगार गीतों को राग-रागिनियों में निबद्ध कर गायन किया जाता है। होली के अवसर पर होने के कारण इनके प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में ऐसी व्यंग्योक्तियाँ भी गायी जाती थीं, जिन पर विभिन्न देवी देवताओं पर फब्तियाँ होती थीं, फिर आयोजक स्वयं अपने ऊपर व्यंग्य-विनोद करते थे और फिर नगर के सभी वर्गों और व्यक्तियों पर व्यंग्य-विनोद की बौछारें की जाती थीं। आज भी महामूर्ख सम्मेलनों के रूप में तथा होली की उपाधियाँ बाँटने के रूप में व्यंग्यविनोद की ऐसी परंपराएँ देश के सभी प्रान्तों में देखी जा सकती हैं। हर युग के साहित्य में इस उत्सव के वर्णनों और उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वसन्त के दिनों में इस प्रकार की लोक-भावनाओं की अभिव्यक्ति एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानवीय मानसिकता है।